The International Journal of Advanced Research In Multidisciplinary Sciences (IJARMS)
Volume 1 Issue 2, 2018

प्राचीन भारतीय शिक्षा दर्शन : एक अध्ययन

M, fo t ; dekj
एसोसिएट प्रोफेसर, बी एड विभाग,
रतनसेन महाविद्यालय, बाँसी , सिद्धार्थनगर

भारत की प्राचीन शिक्षा पद्धति में हमें अनौपचारिक तथा औपचारिक दोनों प्रकार के शैक्षणिक केन्द्रों का उल्लेख प्राप्त होता है। औपचारिक शिक्षा मन्दिर, आश्रमों और गुरुकुलों के माध्यम से दी जाती थी। ये ही उच्च्व शिक्षा के केन्द्र भी थे। जबकि परिवार, पुरोहित, पण्डित, सन्यासी और त्यौहार प्रसंग आदि के माध्यम से अनौपचारिक शिक्षा प्राप्त होती थी। विभिन्न धर्मसूत्रों में इस बात का उल्लेख है कि माता ही बच्चे की श्रेष्ठ गुरु है। कुछ विद्वानों ने पिता को बच्चे के शिक्षक के रुप में स्वीकार किया है। जैसे–जैसे सामाजिक विकास हुआ वैसे–वैसे शैक्षणिक संस्थाएं स्थापित होने लगी। वैदिक काल में परिषद, शाखा और चरण जैसे संघों का स्थापन हो गया था, लेकिन व्यवस्थित शिक्षण संस्थाएं सार्वजनिक स्तर पर बौद्धों द्वारा प्रारम्भ की गई थी।

गुरुकुलों की स्थापना प्रायः वनों, उपवनों तथा ग्रामों या नगरों में की जाती थी। वनों में गुरुकुल बहुत कम होते थे। अधिकतर दार्शनिक आचार्य निर्जन वनों में निवास, अध्ययन तथा चिन्तन पसन्द करते थे। वाल्मीकि, सन्दीपनि, कण्व आदि ऋषियों के आश्रम वनों में ही स्थित थे और इनके यहाँ दर्शन शास्त्रों के साथ–साथ व्याकरण, ज्योतिष तथा नागरिक शास्त्र भी पढ़ाये जाते थे। अधिकांश गुरुकुल गांवों या नगरों के समीप किसी वाग अथवा वाटिला में बनाये जाते थे। जिससे उन्हें एकान्त एवं पवित्र वातावरण प्राप्त हो सके। इससे दो लाभ थे एक तो गृहस्थ आचार्यों को सामग्री एकत्रित करने में सुविधा थी, दूसरे ब्रह्मचारियों को भिक्षाटन में अधिक भटकना नहीं पड़ता था। मनु के अनुसार ब्रह्मचारों को गुरु के कुल में, अपनी जाति वालों में तथा कुल बान्धवों के यहां से भिक्षा याचना नहीं करनी चाहिए, यदि भिक्षा योग्य दूसरा घर नहीं मिले, तो पूर्व–पूर्व गृहों का त्याग करके भिक्षा याचना करनी चाहिये। इससे स्पष्ट होता है कि गुरुकुल गांवों के सन्निकट ही होते थे। स्वजातियों से भिक्षा याचना करने में उनके पक्षपात तथा ब्रह्मचारी के गृह की ओर आकर्षण का भय भी रहता था अतएव स्वजातियों से भिक्षा–याचना का पूर्ण निषेध कर दिया गया था। बहुधा राजा तथा सामन्तों का प्रोत्साहन पाकर विद्वान् पण्डित उनकी सभाओं की ओर आकर्षित होते थे और अधिकतर उनकी राजधानी में ही बस जाते थे, जिससे वे नगर शिक्षा के केन्द्र बन जाते थे। इनमें तक्षशिला, पाटलिपुत्र, कान्यकुब्ज, मिथिला, धारा, तंजोर आदि प्रसिद्ध हैं। इसी प्रकार तीर्थ स्थानों की ओर भी विद्वान् आकृष्ट होते थे। फलस्वरूप काशी, कर्नाटक, नासिक आदि शिक्षा के प्रसिद्ध केन्द्र बन गये। कभी–कभी राजा भी अनेक विद्वानों को आमंत्रित करके दान में भूमि आदि देकर तथा जीविका निश्चित करके उन्हें बसा लेते थे। उनके बसने से वहां एक नया गांव बन जाता था। इन गांवों को अग्रहार कहते थे। इसके अतिरिक्त

विभिन्न हिन्दू सम्प्रदायों एवं मठों के आचार्यों के प्रभाव से ईसा की दूसरी शताब्दी के लगभग मठ शिक्षा के महत्त्वपूर्ण केन्द्र बन गये। इनमें शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य आदि के मठ प्रसिद्ध हैं। सार्वजनिक शिक्षण संस्थाएँ सर्वप्रथम बौद्ध विहारों में स्थापित हुई थीं। भगवान बुद्ध ने उपासकों की शिक्षा–दीक्षा पर अत्यधिक बल दिया। इस संस्थाओं में धार्मिक ग्रन्थों का अध्यापन एवं आध्यात्मिक अभ्यास कराया जाता था। अशोक (३०० ई. पू.) ने बौद्ध विहारों की विशेष उन्नति करायी। कुछ समय पश्चात् ये विद्या के महान केन्द्र बन गये। ये वस्तुतः गुरुकुलों के ही समान थे। किन्तु इनमें गुरु किसी एक कुल का प्रतिनिधि न होकर सारे विहार का ही प्रधान होता था।

ये धर्म प्रचार की दृष्टि से जनसाधारण के लिए भी सुलभ थे। इनमें नालन्दा विश्वविद्यालय (४५० ई.), वल्लभी (७०० ई.), विक्रमशिला (८०० ई.) प्रमुख शिक्षण संस्थाएँ थीं। इन संस्थाओं का अनुसरण करके हिन्दुओं ने भी मन्दिरों में विद्यालय खोले जो आगे चल कर मठों के रूप में परिवर्तित हो गये। . शंकराचार्य आम तौर पर अद्वैत परम्परा के मठों के मुखिया के लिये प्रयोग की जाने वाली उपाधि है। शंकराचार्य हिन्दू धर्म में सर्वोच्च धर्म गुरु का पद है जो कि बौद्ध धर्म में दलाईलामा एवं ईसाई धर्म में पोप के समकक्ष है। इस पद की परम्परा आदि गुरु शंकराचार्य ने आरम्भ की। यह उपाधि आदि शंकराचार्य, जो कि एक हिन्दू दार्शनिक एवं धर्मगुरु थे एवं जिन्हें हिन्दुत्व के सबसे महान प्रतिनिधियों में से एक के तौर पर जाना जाता है, के नाम पर है। उन्हें जगद्गुरु के तौर पर सम्मान प्राप्त है एक उपाधि जो कि पहले केवल भगवान कृष्ण को ही प्राप्त थी। उन्होंने सनातन धर्म की प्रतिष्ठा हेतु भारत के चार क्षेत्रों में चार मठ स्थापित किये तथा शंकराचार्य पद की स्थापना करके उन पर अपने चार प्रमुख शिष्यों को आसीन किया। तबसे इन चारों मठों में शंकराचार्य पद की परम्परा चली आ रही है। यह पद अत्यंत गौरवमयी माना जाता है।

भारत में वैदिक धर्म के पुनर्जागरण के इतिहास में जगद्गुरु आद्यशंकराचार्य का नाम सर्वोपरि है। आद्य शंकराचार्य के महान् व्यक्तित्व में धर्म–सुधारक, समाज–सुधारक, दार्शनिक, कवि, साहित्यकार, योगी, भक्त, गुरु, कर्मनिष्ठ, विभिन्न सम्प्रदायों एवं मतों के समन्वयकर्ता–जैसे रूप समाहित थे। उनका महान् व्यक्तित्व सत्य के लिए सर्वस्व का त्याग करनेवाला था। उन्होंने शास्त्रीय ज्ञान की प्राप्ति के साथ ब्रह्मत्व का भी अनुभव किया था। उनके व्यक्तित्व में अद्वैतवाद, शुद्धाद्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद और निर्गुण ब्रह्म के साथ सगुण–साकार की भक्ति की धाराएँ समाहित थीं। 'जीव ही ब्रह्म है, अन्य नहीं' पर जोर देनेवाले आदि शंकराचार्य ने 'ब्रह्म सत्यं जग मिथ्या' का उद्घोष किया और बताया कि अद्वैत ज्ञान ही सभी साधनाओं की परम उपलब्धि है। उन्होंने अपने अकाट्य तर्क से शैव, शाक्त और वैष्णवों का द्वंद्व समाप्त कर पञ्चदेवोपासना का मार्ग दिखाया। कुछ विद्वान् शंकराचार्य पर बौद्ध शून्यवाद का प्रभाव देखते हैं। आचार्य शंकर में मायावाद पर महायान बौद्ध चिन्तन का प्रभाव मानकर उनको 'प्रच्छन्न बुद्ध' कहा गया। आचार्य शंकर के उपदेश आत्मा और पमात्मा की एकरूपता पर आधारित हैं।

आचार्य शंकर ने मात्र 32 वर्ष की अल्पायु में देश को एकसूत्र में पिरोने और वैदिक धर्म के प्रचार–प्रसार के लिए जितना कार्य किया, वह अनुपम है। उनके समस्त कार्यों का मूल्यांकन करना लेखनी के वश की बात नहीं है। देश के चार स्थानों पर मठों की स्थापना करके वहाँ 'शंकराचार्य' की नियुक्ति दशनामी संन्यासियों का संगठन बनाकर उनके लिए अखाड़ों और महामण्डलेश्वर की व्यवस्थाय कुम्भ–मेलों और द्वादश ज्योतिर्लिंगों का व्यवस्थापनय प्रस्थानत्रयी

(उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और भगवद्गीता) पर भाष्य तथा अद्वैतवेदान्त के अनेक मौलिक ग्रंथों एवं स्तोत्रों की रचना तथा अवैदिक मत–मतांतरवाले अनेक विद्वानों को शास्त्रार्थ में पराजित करके सनातन–धर्म की पुनर्प्रतिष्ठा–जैसे अनेक कार्य शंकराचार्य को एक लौकिक मानव से ऊपर अलौकिक की श्रेणी में प्रतिष्ठित करते हैं।

शंकर मठ परम्परा रू जगदगुरु आद्य शंकराचार्य ने सनातन–धर्म के प्रचार–प्रसार, गुरु–शिष्य परम्परा के निर्वहन, शिक्षा, उपदेश और संन्यासियों के प्रशिक्षण और दीक्षा, आदि के लिए देश के भिन्न–भिन्न स्थानों पर 4 मठों या पीठों की स्थापना की और वहाँ के मठाध्यक्ष (मठाधीश, महंत, पीठाधीश, पीठाध्यक्ष) को 'शंकराचार्य' की उपाधि दी। इस प्रकार ये मठाधीश, आद्य शंकराचार्य के प्रतिनिधि माने जाते हैं और ये प्रतीक–चिह्न, दण्ड, छत्र, चँवर और सिंहासन धारण करते हैं। ये अपने जीवनकाल में ही अपने सबसे योग्य शिष्य को उत्तराधिकारी घोषित कर देते हैं। यह उल्लेखनीय है कि आद्य शंकराचार्य से पूर्व ऐसी मठ–परम्परा का संकेत नहीं मिलता। आद्य शंकराचार्य ने ही यह महान् परम्परा की नींव रखी थी। इसलिए 'शंकराचार्य' हिंदू–धर्म में सर्वोच्च धर्मगुरु का पद है जो कि बौद्ध–सम्प्रदाय में 'परमपावन दलाईलामा' एवं ईसाइयत में 'पोप' के समकक्ष है।

आद्य शंकराचार्य द्वारा स्थापित मठों को शांकरऋमठ भी कहा जाता है। इन मठों में संन्यास लेने के बाद दीक्षा लेनेवाले संन्यासी के नाम के बाद एक विशेषण लगा दिया जाता है जिससे यह संकेत मिलता है कि यह संन्यासी किस मठ से है और वेद की किस परम्परा का वाहक है। सभी मठ अलग–अलग वेद के प्रचारक होते हैं और इनका एक विशेष महावाक्य होता है। इनका विवरण इस प्रकार है।

ज्योतिर्मठकृ यह मठ उत्तराखण्ड के बद्रीकाश्रम में है। इस मठ की स्थापना सर्वप्रथम, 492 ई.पू. में हुई। यहाँ दीक्षा लेने वाले संन्यासियों के नाम के बाद 'गिरि', 'पर्वत' और 'सागर' विशेषण लगाया जाता है जिससे उन्हें उस संप्रदाय का संन्यासी माना जाता है। इस पीठ का महावाक्य 'अयमात्म ब्रह्म' है। यहाँ अथर्ववेद–परम्परा का पालन किया जाता है। आद्य शंकराचार्य ने तोटकाचार्य इस पीठ का प्रथम शंकराचार्य नियुक्त किया था। ब्रह्मलीन पुज्य स्वामी कृष्णबोधाश्रम महाराज जी के पश्चात वर्तमान समय तक मठ का आचार्य–पद विवादित है, जो बहुत ही चिंताजनक है।

श्रृंगेरी शारदा मठ यह मठ कर्नाटक के श्रृंगेरी में अवस्थित है। इस मठ की स्थापना 490 ई.पू. में हुई। यहाँ दीक्षा लेने वाले संन्यासियों के नाम के बाद 'सरस्वती', 'भारती', 'पुरी' नामक विशेषण लगाया जाता है। इस मठ का महावाक्य 'अहं ब्रह्मास्मि' है। यहाँ यजुर्वेद–परम्परा का पालन किया जाता है। सुरेश्वराचार्य (मण्डन मिश्र) यहाँ के प्रथम शंकराचार्य नियुक्त किए गए थे। सम्प्रति स्वामी भारती तीर्थ महास्वामी इस पीठ के शंकराचार्य हैं।

द्वारकाऋशारदा मठ यह मठ गुजरात के द्वारका में अवस्थित है। इस मठ की स्थापना 489 ई.पू. में हुई। इस मठ में दीक्षा लेने वाले संन्यासियों के नाम के बाद 'तीर्थ' और 'आश्रम' विशेषण लगाया जाता है। यहाँ का वेद सामवेद और महावाक्य 'तत्त्वमसि' है। इस मठ के प्रथम शंकराचार्य हस्तामालकाचार्य थे। हस्तामलक आदि शंकराचार्य के प्रमुख चार शिष्यों में से एक थे। वर्तमान में स्वामी स्वरूपानन्द सरस्वती इसके 79वें मठाधीश हैं।

गोवर्धनऋमठ यह ओड़ीशा के जगन्नाथपुरी में है। इस मठ की स्थापना 486 ई.पू. में हुई। इस मठ में दीक्षा लेनेवाले संन्यासियों के नाम के बाद 'आरण्य' विशेषण लगाया जाता है। यहाँ का वेद ऋग्वेद है। इस मठ का महावाक्य 'प्रज्ञानम् ब्रह्म' है। आद्य शंकराचार्य ने अपने प्रथम शिष्य पद्मपादाचार्य को इस मठ का प्रथम शंकराचार्य नियुक्त किया था। सम्प्रति स्वामी निश्चलानन्द सरस्वती यहाँ के 145वें शंकराचार्य हैं।

काञ्ची कामकोटि मठ, यह मठ तमिलनाडु के काञ्चीपुरम् में अवस्थित है। आद्य शंकराचार्य देश के चार कोनों में मठों की स्थापना करके अपने जीवन का शेष समय व्यतीत करने के लिए 482 ई.पू. में काञ्चीपुरम् में रहने लगे थे। तभी से उनका निवास–स्थान मठ में परिवर्तित हो गया और कालांतर में 'काञ्ची कामकोटि मठ' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। आद्य शंकराचार्य जब तक उस मठ में रहे, तब तक उस मठ के अध्यक्ष स्वयं रहे। 477 ई.पू. में हिमालय जाने से पूर्व उन्होंने शृंगेरी शारदा मठ के अध्यक्ष सुरेश्वराचार्य को काञ्ची का भी अतिरिक्त कार्यभार सौंपा। सम्प्रति स्वामी शंकर विजयेन्द्र सरस्वती यहाँ के 70 वें शंकराचार्य हैं।

उपर्युक्त पाँचों मठों के अतिरिक्त भी भारत में कई अन्य जगह 'शंकराचार्य' की उपाधि लगानेवाले मठ मिलते हैं। यह इस प्रकार हुआ कि कुछ शंकराचार्यों के शिष्यों ने अपने मठ स्थापित कर लिये एवं अपने नाम के आगे भी 'शंकराचार्य' उपाधि लगाने लगे। परन्तु असली शंकराचार्य उपरोक्त पाँचों मठों पर आसीन को ही माना जाता है।

भारतीय इतिहास और संस्कृति की अति प्राचीन और अविच्छिन्न परम्परा से अपरिचित पश्चिमी विद्वानों की यह साग्रह धारणा रही कि भारतीय सभ्यता बहुत अधिक प्राचीन नहीं है। अतः उन्होंने अपनी इस पूर्वकल्पित धारणा के सामंजस्य में भारतीय तिथिक्रम को तोड़ा–मरोड़ा। उन्होंने जीसस के बाद ही किसी महान् घटना को सिद्ध करने के लिए शंकर की तिथि को जान–बूझकर 788–820 ई. में रखा, ताकि उनकी (यूरोप) श्रेष्ठता स्थापित हो सके। जबकि वास्तविकता तो यह है कि शृंगेरी के शंकराचार्य नृसिंह भारती से पूर्व ये इतिहासकार आचार्य शंकर के जन्मस्थान तक का पता नहीं लगा सके थे, जबकि शंकर के जन्मकाल से अधिक विवादग्रस्त विषय भारतीय इतिहास में शायद ही कुछ हो। विदेशी और भारतीय इतिहासकारों ने भारत के परंपरागत इतिहास को अप्रामाणिक मानकर जिन प्रमाणों के आधार पर शंकराचार्य को 8वीं शती का माना है, वे प्रमाण तर्क और तथ्य की कसौटी पर थोथे सिद्ध हुए।
आद्य शंकराचार्य के काल–निर्धारण में आज भी वैज्ञानिक दृष्टि से काम लेने की आवश्यकता है।

देश के प्रतीकपुरुष शंकराचार्य के जन्मकाल के सम्बन्ध में पाश्चात्य मत से प्रभावित अधिकांश इतिहासकारों द्वारा प्रतिपादित 788–820 ई. को प्रामाणिक मानकर कई शोधकर्ताओं ने डॉक्टरेट की उपाधियाँ भी प्राप्त कर ली हैं। जबकि शांकर–मठाम्नाय एवं अन्य प्राचीन परम्परा आचार्य शंकर का स्थिति–काल 509–477 ई.पू. निश्चित करती है। गोवर्धन मठ, द्वारका शारदा मठ और काञ्ची कामकोटि मठ में क्रमशः 145, 79 और 70 उत्तराधिकारियों (शंकराचार्यों) की अविच्छिन्न परम्परा चली आ रही है और इन तीनों मठों में अपने पूर्ववर्ती शंकराचार्यों की विस्तृत सूची सुरक्षित है जिसमें प्रत्येक शंकराचार्य का वास्तविक नाम, उनका पीठासीन वर्ष, उनका कार्यकाल, उनकी निर्वाण–तिथि, मास, वर्ष तथा स्थान का प्रामाणिकता से उल्लेख है। ये तीनों सूचियाँ उसी

समय से अद्यतन की जा रही हैं, जब से वहाँ पर मठों की स्थापना की गयी थी। सुयोग्य अनुयायियों ने बड़े यत्न से अपने मठ के इतिहास को सुरक्षित रखा है।

आद्य शंकराचार्य के जीवन का शास्त्रार्थ की परंपरा से गहरा संबंध है। मंडन मिश्र के साथ हुआ उनका शास्त्रार्थ ने न केवल भारतीय चिंतनधारा को बदलकर रख दिया बल्कि शास्त्रार्थ की परंपरा के सामर्थ्य से भी हमारा परिचय कराया। यह शास्त्रार्थ कितना महत्त्वपूर्ण है, इसका अंदाजा इसी बात से लगाया जा सकता है कि आज भी भारतीय जनमानस में इसकी स्मृति बनी हुई है। ऐसी मान्यता है कि शिवगुरु नामपुद्रि और उनकी पत्नी विशिष्टादेवी ने पुत्र प्राप्ति के लिए भगवान शंकर से प्रार्थना की। दोनों ने इसके लिए कठोर तपस्या की। भगवान शिव ने प्रसन्न होकर उन्हें एक पुत्र का वरदान दिया, लेकिन एक शर्त भी लगा दी।

भगवान शंकर ने उन्हें स्वप्न में दर्शन देकर कहा कि मैं तुम्हारी तपस्या से अत्यंत प्रसन्न हुआ और तुम्हें एक बालक का वरदान भी देता हूं, लेकिन एक दुविधा है। तुम्हारे यहां जन्म लेने वाला दीर्घायु पुत्र सर्वज्ञ नहीं होगा और सर्वज्ञ पुत्र दीर्घायु नहीं होगा। तुम्हें दोनों में से किसी एक का चयन करना होगा। मांगो तुम कैसा वर चाहते हो। इस पर शिवगुरु ने सर्वज्ञ पुत्र पाने की मांग की। इस पर भगवान शिव ने उन्हें आश्वस्त करते हुए वर दिया कि मैं स्वयं पुत्र रूप में तुम्हारे यहां अवतरित होऊंगा। कुछ समय के पश्चात विशिष्टा देवी ने एक सुंदर से बालक को जन्म दिया जिसका नाम शंकर रखा गया, लेकिन इस बालक के नाम के साथ भविष्य में अपने कार्यों की वजह से आचार्य जुड़ गया और उनका नाम शंकराचार्य पड़ गया। बहुत छोटी सी उम्र में ही समस्त शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त कर लिया। बाद में उन्होंने संन्यास ले लिया और सनातन धर्म को पुनः प्रतिष्ठित करने में अपना समस्त जीवन अर्पित कर दिया। सनातन धर्म की पुनःप्रतिष्ठा में उन्होंने मुख्यतया शास्त्रार्थ का सहारा लिया, जिसमें मंडन मिश्र के साथ हुआ उनका शास्त्रार्थ जगत प्रसिद्ध है।

आद्य शंकराचार्य को मंडन मिश्र से शास्त्रार्थ करने का सुझाव कुमारिल भट्ट ने दिया था। इसलिए शंकराचार्य के जीवन में शास्त्रार्थ परंपरा की उपस्थिति को ठीक ढंग से समझने के लिए यात्रा कुमारिल भट्ट से प्रारंभ करनी पड़ेगी। वेदवेत्ता कुमारिल भट्ट का जन्म जयमंगल नामक गांव में पं. यज्ञेश्वर भट्ट के यहां हुआ था। उन्होंने वेद,वेदांग तथा अन्य शास्त्रों का अध्ययन किया। उनकी धर्म परायणता तथा विद्वता के कारण उन्हें भट्टपाद कहा जाता था। कुमारिल वैदिक धर्म के अनन्य भक्त थे। उस समय बौद्ध मत के विकास के साथ ही वेदों की दशा निरंतर गिर रही थी तथा वेदों का उपहास उड़ाया जाने लगा था। कुमारिल ने बौद्ध मत के खंडन का निश्चय किया किंतु इस के लिए उन्हें बौद्ध मत से संबंधित ग्रंथों का अध्ययन करना था, किंतु बौद्ध ग्रंथ उपलब्ध न थे। अतः अपने निश्चय को कार्यान्वित करने के लिए श्रीनिकेतन नामक एक बौद्ध धर्माचार्य के पास शिष्य स्वरूप जा पहुंचे व बौद्ध मत का अध्ययन करने लगे। एक दिन गुरु ने वेदों की खूब निंदा की तो कुमारिलभट्ट की आंखों से अविरल आंसू बहने लगे। इससे उनके सहपाठी समझ गए कि वह वेदमार्गी हैं। इसके कारण उन्हें आश्रम से बाहर फेंक दिया गया। वह आश्रम से बाहर आ गए और वेदमार्ग और बौद्धमार्ग की तुलना कर लोगों को वेदों की श्रेष्ठता समझाने लगे। इसमें उनको सफलता भी मिली, लेकिन वह स्वयं को गुरुद्रोही मानते थे क्योंकि उन्होंने पहचान छिपा कर बौद्ध गुरु से शिक्षा ली थी। गुरु द्रोह का पश्चाताप करने के लिए अंत में उन्होंने स्वयं को अग्नि को समर्पित करने की ठानी।

जिस प्रकार कुमारिल उत्तर भारत में बौद्धों से शास्त्रार्थ कर रहे थे ,उसी प्रकार ही शंकराचार्य दक्षिण भारत में बौद्ध मान्यताओं से टकरा रहे थे। उन्होंने कुमारिल जी के संबंध में चर्चा सुनी, तो उन्हें मिलने का निश्चय कर प्रयाग आए। यहां उनके तुषाग्नि में प्रवेश की चर्चा सुन वह दौड़ते हुए संगम पहुंचे तथा शांत चित्त कुमारिल को जलती अग्नि में बैठे देख दंग रह गए। धधकती चिता के सम्मुख वार्तालाप करने में विलंब का अवसर न था। अतः शीघ्रता से अपना परिचय देते हुए बोले कि मैं आप से शास्त्रार्थ करना चाहता था। शंकर ने उन्हें स्वरचित भाष्य आदि भी दिखाए। उन्हें देख कुमारिल बहुत प्रसन्न हुए तथा आत्मदाह का कारण भी बताया तथा कहा मै तो शास्त्रार्थ करने में असमर्थ हूं। आप का उद्देश्य निश्चय ही बड़ा उत्तम है। मैं अपना काम कर चुका हूं। अब आप अपने उद्देश्य की पूर्ति के निमित्त मेरे प्रधान शिष्य मंडन मिश्र से मिलिए। इसके बाद अग्नि जोरों से जलने लगी,पुण्यात्मा कुमारिल प्रायश्चित करते हुए भस्म हो गए। इससे शंकराचार्य बड़े दुखी हुए। कुमारिल के भस्म होने का कारण उनका कर्म कांड था।

इस कारण शंकराचार्य जी ने कर्मकांड का भी खंडन करने का निश्चय किया तथा ज्ञान कांड का मंडन करने लगे। मंडन मिश्र से शास्त्रार्थ करने के लिए शंकराचार्य कटिबद्ध होते हैं। मंडन मिश्र मिथिलांचल में कोसी नदी के किनारे स्थित एक गांव महिषि में रहते थे। तब धर्म–दर्शन के क्षेत्र में शंकराचार्य की ख्याति दूर–दूर तक थी। कहा जाता है कि उस वक्त ऐसा कोई ज्ञानी नहीं था, जो शंकराचार्य से धर्म और दर्शन पर शास्त्रार्थ कर सके। शंकराचार्य देशभर के साधु–संतों और विद्वानों से शास्त्रार्थ करते मंडन मिश्र के गांव तक पहुंचे थे। मंडन मिश्र गृहस्थ आश्रम में रहने वाले विद्वान थे। उनकी पत्नी भी विदूषी थीं। इस दंपती के घर पहुंचकर शंकराचार्य ने मंडन मिश्र से शास्त्रार्थ करने का प्रस्ताव रखा। उन्होंने शर्त रखी कि जो हारेगा, वह जीतने वाले का शिष्य बन जाएगा। अब सवाल खड़ा हुआ कि दो विद्वानों के बीच शास्त्रार्थ में हार–जीत का फैसला कौन करेगा। शंकराचार्य को पता था कि मंडन मिश्र की पत्नी भारती विद्वान हैं।

उन्होंने उन्हें ही निर्णायक की भूमिका निभाने को कहा। यहां 21 दिनों तक लगातार हुए शास्त्रार्थ में शंकराचार्य ने हालांकि मंडन को पराजित किया। आदि शंकराचार्य इन कर्मकांडों की उपयोगिता, महत्त्व और आवश्यकता पर चर्चा और बहस के माध्यम से यह स्थापित करना चाहते थे कि मुक्ति प्राप्त करने के लिए ये कर्मकांड आवश्यक नहीं हैं। इसके माध्यम से वह धर्म से आडंबर को दूर करने के बारे में सामान्य जन को संदेश देकर जागरूक करना चाहते थे। मंडन मिश्र उत्तर भारत के स्थापित विचारक थे, अतः उन्हें शास्त्रार्थ में पराजित करने के अर्थ एक बड़े समूह में एक ही झटके में अपने विचारों का प्रचार करना इसी उद्देश्य से वह मंडन मिश्र से शास्त्रार्थ करने आए थे। दूसरी ओर मंडन मिश्र का मकसद आदि शंकराचार्य को पराजित कर अपनी इस विचारधारा को और मजबूती से स्थापित करना था कि कर्मकांड न सिर्फ हमारी प्राचीन परंपरा है, बल्कि दैनिक जीवन के लिए भी जरूरी है। इस शास्त्रार्थ में शंकराचार्य की विजय ने भारत को कर्मकांड से ज्ञानकांड की तरफ मोड़ दिया।

आदि शंकराचार्य जी ने देश के चारों कोनों की व्यापक यात्रायें कीं, समकालीन विद्वानों से विचार विमर्श किया तथा भारत की आध्यात्मिक और ज्ञान परम्परा की एकता को स्थापित किया। अपने दर्शन को आचार्यों से गंभीर शास्त्रार्थों की कसौटी पर परखा।उनके ग्रंथ, उनकी आध्यात्मिक स्थापनाएं, उनका अद्वैत दर्शन, आज भी अखिल मानवता का मार्ग प्रशस्त करता है। आदि

शंकराचार्य जैसे तत्वदर्शी संतों के जीवन और कृतित्व का अनुशीलन स्वतः ही जीवन में मुक्ति, शांति और ज्ञान का अनुभव कराता है।

l UnHk xUFk l ph

1. डॉ0 राम सकल पाण्डेय, शिक्षा के दार्शनिक व समाजशास्त्रीय पृष्ठभूमि–विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा–2013
2. रमन विहारी लाल, शिक्षा के दार्शनिक व समाजशास्त्रीय आधार, रस्तोगी पब्लिकेशन्स–मेरठ 2014
3. लक्ष्मी नारायण गुप्त, उदीयमान भारतीय समाज में शिक्षक, न्यू कैलाश प्रकाशन, इलाहाबाद 2011
4. एस0 पी0 रूहेला, शिक्षा के दार्शनिक व समाजशास्त्रीय, आधार, अग्रवाल पब्लिकेशन, आगरा–2013
5. एन0 आर0 स्वरूप सक्सेना, उदीयमान भारतीय समाज में शिक्षक आर0 लाल0 बुक डिपो, 2011